S.K.C.

TATVA KAUMUDI

TK (H)
HINDII

तत्त्व कौमुदी

TATTVA KAOMUDII

Shrii Prabháta Rainjana Sarkár

तत्त्व कौमुदी

श्री प्रभात रञ्जन सरकार

लेखक की सम्पादना में श्री ब्रजमोहन द्वारा मूल बंगला से अनूदित —

इस पुस्तक का समस्त स्वत्व आनन्द मार्ग प्रचारक संघ की केन्द्रीय संस्था को उपहार दिया ।

जमालपुर —लेखक

दिनाङ्क—११-६-५७

सहोदरा बिजली,

दीर्घ दिनों की स्नेह-ममता का बन्धन छिन्न कर अल्प ही उम्र में जो चली गई है।

उसी की स्मृति में—

............................'बड़दा'

Price —Rs. 0. 50

मूल्य —५० पैसे

प्रथम संस्करण —मई १६५६

द्वितीय संस्करण —भाद्र पूर्णिमा १६६४ (२१-६-६४)

तृतीय संस्करण —अग्रहायण पूर्णिमा १६६५

प्रकाशक:—

आचार्य श्रीपति

प्रकाशन संचालक (Publication Manager)

आनन्द-मार्ग प्रचारक संघ ,

आनन्द नगर,

पो०—बागलता,

जिला—पुरुलिया (पश्चिम बंगाल)

मुद्रक —आनन्द प्रेस , आनन्द नगर

पो०—बागलता,

जि०—पुरुलिया (प० बं०)

तत्त्व कौमुदी

प्रश्न — १ अणुचैतन्य अणुमानस को किस तरह प्रभावित करता है ?

उत्तर — क्रिया या वस्तु की अस्तित्व-सिद्धि साक्षित्व के ऊपर निर्भरशील है। अणुमानस की सर्व प्रकार की चेष्टाएँ तथा अस्तित्व अणुचैतन्यरूपी आत्मिक साक्षित्व में ही सिद्ध होता है। इसको छोड़कर चिति शक्ति रूपी पुरुष (आत्मा) अपने जीवात्मारूप प्रतिफलन के माध्यम से मन को सूक्ष्म की ओर सर्वदा ले चलने की प्रेरणा देता रहता है। अणुचैतन्य प्रेरणा का उत्स नहीं होने पर भी आपातदृष्टि से ब्राह्मी-प्रेरणा उसी के माध्यम से काम करती रहती है। यह प्रेरणाशक्ति विद्या-प्रकृति के साथ सदादिभाव से सम्बन्धित रहकर ब्राह्मी कल्पना के प्रतिसंचरात्मक धाराप्रवाह से अणुमानस को व्यापकता के पथ से — विकास के पथ से ले चल रही है।

प्रश्न — २ जीवपङ्क (Protoplasm) की चेतना और मानवीय चेतना में पार्थक्य कहाँ है ?

उत्तर— देहनिर्माता प्रत्येक कोश ही एक-एक जीवित प्राणी है। इनमें से प्रत्येक को ही स्वतन्त्र मन है, यद्यपि ये मन अत्यन्त अनग्रसर अवस्था में रहते हैं। इन जीवपङ्कीय मनों के ऊपर पुरुष-सत्ता

के प्रतिफलन के फलस्वरूप प्रत्येक में अणुपुरुष या जीवात्मभाव की सृष्टि हुई है। ब्रह्ममन की प्रतिसंचरात्मिका गति के फलस्वरूप यह जीवपङ्कीय मनसमूह भी धीरे धीरे उन्नत अवस्था प्राप्त करेगा —उन्नत-जीव-मानस में रूपान्तरित होगा। बालूकणों के अस्फुट मन स्फुट होते-होते जीव-पङ्कीय मन के स्तर में आकर रुक नहीं जाते, क्योंकि प्रतिसंचरात्मिका गति की निवृत्ति वहाँ नहीं होती। आगे चलते चलते वह एक दिन मनुष्य के मन के भाव को परिग्रह करता है और साथ ही साथ एक मानवीय आधार पाता है। अतः मानवीय आधार की मानससत्ता उक्त आधार सृष्टिकारी जीवपङ्क समूह की मानस-सत्ताओं के सामूहिक भाव नहीं, बल्कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र सत्ता है, स्वयं भी एक अणुमानस है। अगर वह समष्टि जीव-पङ्कीय मानस होता, तब उनको अणुमानस नहीं कहा जा सकता। अनग्र-सर जीवपङ्कों के मिलित मन के द्वारा उन्नत मनुष्य के मन का कार्य करना सम्भव नहीं क्योंकि उनमें हरएक के बीच पुरुष के ऊपर प्रकृति का प्रभाव अत्यन्त अधिक है, इसलिये उनकी मिलित देह में भी पुरुष के ऊपर प्रकृति का प्रभाव अत्यन्त अधिक ही रह जाता है। इस तरह के समष्टि मन के लिये धारणा करना या स्वतंत्र बुद्धि में प्रतिष्ठित होना बिलकुल सम्भव नहीं है।

प्रश्न — ३ चित्तधातु (Mind stuff) और आकाशभूत (Ether या Etheron या अनुरूप वस्तु) में वस्तुगत क्या कोई भेद है ? अगर है तो क्यों है ?

उत्तर —नहीं, वस्तुगत कोई भेद नहीं है। दोनों ही चैतन्यधातु से निर्मित हुए हैं। वास्तव में जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं —सब कुछ चैतन्य है। तब हाँ, प्रकृति की बन्धनीशक्ति के प्रभाव के तारतम्य के कारण यह पुरुष ही कहीं स्थूल पंचभूत रूप में कहीं सूक्ष्म मानसभाव में और कहीं कारणात्मा भाव में प्रतिभात होते हैं। पञ्चभूत के ऊपर प्रकृति का जितना प्रभाव है उससे जहाँ पर प्रभाव की मात्रा अपेक्षाकृत कुछ कम है, पुरुष की उसी अवस्था का नाम चित्तधातु है।

प्रश्न —४ शङ्कर के मायावाद में भाव और वस्तु, इन दोनों का स्थान क्या है ?

उत्तर— शङ्कर ने वस्तुवादियों की तरह उत्साह लेकर विभिन्न मतवादों का खण्डन करने की चेष्टा की थी। बौद्ध विज्ञानवाद को परास्त करने के समय भी उनकी भूमिका कुछ-कुछ वस्तुवादियों के के समान ही थी। कारण, बौद्ध विज्ञानवाद (विज्ञान का अर्थ यहाँ (Science नहीं मानस-चेतना है) सम्पूर्ण रूप से भाववाद (Idealism) था, किन्तु इसी भाववाद को परास्त करते-करते आखिर तक वे स्वयं चरम भाववादी हो गए थे। वस्तुतान्त्रिक जगत् उनके मतानुसार मिथ्या है। ऐसा ही नहीं, वरन् मानसिक सङ्कल्प और विकल्प भी मिथ्या है। सत्य केवल निर्गुण-ब्रह्म है। यहाँ पर उनकी अवस्था सुकरात, हेगेल, बर्कले, इमैनुअलकाण्ट आदि विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों के समान ही थी अर्थात् भाववाद का खण्डन करने के लिए

वे स्वयं ही भाववादी हो गए थे। मतवादों के दृष्टिकोण से उनसे पाश्चात्य अभिज्ञतावाद (Empirio - criticism) के साथ कुछ समानता प्रतीत होती है, किन्तु शङ्कर इनसे भी एकदम आगे बढ़ गए थे अर्थात् मानस अनुभूति भी उनके लिये मिथ्या तथा जड़ भी मिथ्या है। जड़ और मानस अनुभूति के ऊर्ध्व में शङ्कर का जो Element (सद्धातु) है , वह ब्रह्म सिर्फ निर्गुण पुरुष है। उनकी प्रकृति या माया भी चरम सत्य के रूप में स्वीकृत नहीं है। सब से मजे की बात यह है कि जो माया मिथ्यास्वभावा है, जो माया अनिर्वचनीया है, उसी माया को अघटन-घटन-पटीयसी के रूप में मान कर शङ्कर को आगे चलना पड़ा था।

प्रश्न—५ पुरुषोत्तम में प्रकृति का प्रभाव क्या है? पुरुषोत्तम और निर्गुण- ब्रह्म में भेद कहाँ है?

उत्तर — सगुण-ब्रह्म का प्राण केन्द्र या न्यूक्लियस ही पुरुषोत्तम रूप में अभिहित है। जहाँ पुरुष है, वहीं उनके आश्रित प्रकृति है। पुरुषोत्तम प्रकृति - संयुक्त होने पर भी प्रकृति के प्रभावाधीन नहीं हैं। किन्तु सगुण-ब्रह्म का व्यक्त भाव प्रकृति के प्रभावाधीन उनकी संचरात्मिका एवं प्रतिसंचरात्मिका क्रिया में विधृत है। इस पुरुषोत्तम में पुरुष की प्रधानता रहने के कारण यह अवश्य ही निर्गुण पदवाच्य है। किन्तु खूब सूक्ष्म विचार करने पर इनको निर्गुण-ब्रह्म मान लेना भी ठीक नहीं है। कारण, व्यक्त जगत् के समान ये गुणाधीन या

गुणसृष्ट नहीं होने पर भी गुणाधीन जगत् के साथ साक्षित्व के सम्बंध में आबद्ध होने के कारण गुण के साथ इनका सम्पर्क रहता है। इसलिये इनको हम गुणाधीश कह सकते हैं। अतः पुरुषोत्तम विशुद्ध अविकल्प निर्गुण-ब्रह्म नहीं हो सकते। निर्गुण-ब्रह्म में साक्षित्व का अपवाद भी नहीं है। इसलिये वह गुणातीत सत्ता है।

प्रश्न—६ मनुष्य वस्तु भोग किस तरह करता है ? मूल वस्तु का, उसकी छाया का अथवा उसकी छाया की छाया का भोग करता है।

उत्तर— यह पांचभौतिक जगत् अणुमानस के लिए पूर्णतः सत्य है और इस पांचभौतिक देह के लिए पाञ्चभौतिक जगत् का भोग्य वस्तु - समूह भी पूर्णतया सत्य है। इसे अस्वीकार करने से पांचभौतिक देह का अस्तित्व नहीं रह जाता है। किन्तु अणुमानस इस पांचभौतिक जगत् की ठीक भौतिक सत्ता के रूप में भोग नहीं करता है। वह भोग करता है—ज्ञानेन्द्रिय तथा स्नायुगृहीत उसके तन्मात्र समूह का अथवा कर्मेन्द्रिय तथा स्नायुव्यक्त तन्मात्र समूह का। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि मनुष्य का मन मूल वस्तु का भोग नहीं कर उसकी छायासत्ता का भोग करता है।

पांचभौतिक जगत् अणुजीव या अणुमानस के लिए सत्य रूप में प्रतीत होने पर भी तथा एक ही उपाय से निर्मित उसकी पाञ्चभौतिक देह की अस्तित्व-रक्षा के लिए अत्यावश्यक होने पर भी वस्तुतः पाञ्च-भौतिक जगत् ब्रह्ममानस का कल्पनामात्र है। अणु के लिए यह मिथ्या

नहीं होने पर भी ब्रह्म के लिए यह मिथ्या है — स्वसृष्ट कल्पनामात्र है। उनके लिये यह जगत् एक छाया सत्ता के सिवा और कुछ नहीं है। पूर्व अनुच्छेद में कहा गया है कि जीव पांचभौतिक जगत् की छाया का उपभोग करता है। यहाँ देखा जाता है कि यह पांचभौतिक जगत् ब्रह्ममानस का छायामात्र है। इसलिए जीवमानस जो भोग करता है, ब्रह्ममानस के विचार से देखने पर वह मूल वस्तु तो है ही नहीं, उसकी छाया भी नहीं—छाया की छाया है।

प्रश्न—७ सगुण-ब्रह्म क्या कालातीत सत्ता हैं अथवा उनको अनन्त कालव्यापी कहेंगे ?

उत्तर—सगुण ब्रह्म गुणातीत नहीं हैं — वे गुणाधीश हैं। इसलिए उन्हें देशातीत, कालातीत और पात्रातीत न कह कर देशाधीश, कालाधीश और पात्राधीश कहना ही अधिकतर युक्ति सङ्गत है। चैतन्य में जिस प्राकृत शक्ति के प्रभाव से देश, काल और पात्र रूपी आपेक्षिक तत्त्व-समूह का उद्भव हुआ है, सगुण ब्रह्म की विराट देह में वही प्राकृत-शक्ति क्रियाशीला है। जीवों के समान ये गुणों के अधीन नहीं रहने पर भी गुणों से सम्पर्कित हैं। अतः उनको अनन्त कालव्यापी कहना ही अधिक उपयुक्त है अर्थात् जो काल उनमें स्थित है वह उसकी (काल की) दीर्घता के कारण परिमाप के बाहर है।

प्रश्न—८ देहान्त के पश्चात् जीवों के लिए संस्कारानुसार आधार संग्रह करना किस तरह संभव है? यदि कहा जाय कि यह काम प्रकृति

के रजोगुण का है तो भी यह प्रश्न रह जाता है कि अन्ध रजोगुण के लिए उपयुक्त आधार खोज निकालना क्या सम्भव है ?

उत्तर— यह आधार निर्वाचन करना रजोगुण का ही काम है, किन्तु यह रजोगुण तो सगुण-ब्रह्म निरपेक्ष नहीं है अर्थात यह रजोगुण तो ब्रह्ममानस के अहंतत्त्व की बन्धनी शक्ति है। अतः रजोगुण आधार संग्रह कर देता है — कहने का अर्थ हुआ ब्रह्ममानस रजोगुणी शक्ति की सहायता से आधार संग्रह कर देता है। यह आधार निर्वाचक कोई जड़ शक्ति नहीं है — यह पुरुषोत्तम तथा अक्षरपुरुष का साक्षित्वसम्पृक्त सर्वज्ञ भूमा मानस है।

प्रश्न — ६ संस्कार का नाश यदि निर्वाण पदवाच्य है तब अनात्म-वादियों का निर्वाण-लाभ, मुक्ति या मोक्ष पद्वाच्य क्या हो सकता है ?

उत्तर—संस्कार के नाश में मानस-सत्ता का अस्तित्व नस्यात् हो जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ बन्धन से परित्राण पाना है। मोक्ष का भावार्थ भी वैसा ही है अर्थात् विषय के साक्षित्व से अव्यहति पाना ही मोक्ष है। संस्कार के नाश से मन जहाँ पर नस्यात हो गया है, वहाँ जो अनात्मवादी हैं, उनकी कोई सत्ता शेष नहीं रहने के कारण मुक्ति किसकी होगी और मोक्षपद कौन लाभ करेगा ? निर्वाण का अर्थ बुत जाना या अस्तित्व नाश होना हुआ। तब वह तो ध्वंस की हीकए साधना हुई। वह साधना मनुष्य को वास्तविकता से विमुख कर एक हताशमनोभाव से युक्त कर क्लीव बना देगी। यह

साधना पौरुष की साधना नहीं है।

प्रश्न १०—जीवात्मा और परमात्मा में सत्तागत क्या कोई प्रभेद है?

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा तत्वतः एक ही वस्तु होने पर भी उनमें उपाधिगत भेद है। उपाधि का सीमितत्व ही जीवात्मभाव नाम से प्रसिद्ध है। यही सीमित उपाधित्व की सामग्रिकता ही (अनन्त ही) परमात्म पदवाच्य है। अणुमानस के ऊपर परमात्मभाव की प्रतिफलित सत्ता भी दार्शनिक भाषा में जीवात्मा के नाम से अभिहित होती है। उसको अणु-अक्षर कहना ही अधिकतर युक्तिसंगत है। यह अणुअक्षर मानस-भूमि की व्यापकता भेद के कारण विभिन्न प्रकार से परमात्मा और परमपुरुष का भाव ग्रहण करता है।

तात्विक विचार से यह अणुअक्षर और जीवात्मा के बीच जो भी भेद क्यों न रहे, कार्यतः वे अभिन्न हैं। अतः अणुअक्षर के लिए जीवात्मा शब्द आसानी से व्यवहार किया जा सकता है।

साधना के द्वारा साधक अपनी विषयगत व्यापकता अर्जन करने के साथ साथ अपने जीवात्म भाव को परमात्म भाव में प्रतिष्ठित करता रहता है।

प्रश्न—११ मन का धातु (चित्त धातु) और इस पाञ्चभौतिक धातु में क्या कोई सत्तागत भेद है?

उत्तर— नहीं, कोई भेद नहीं है। दोनों ही चैतन्य के प्रकृति-बद्ध रूप हैं। इनमें अन्तर यह है कि चैतन्य धातु के ऊपर प्रकृति का

बन्धन जिस मात्रा में पड़ने के कारण मन का उद्भव होता है, बन्धन की मात्रा उसकी अपेक्षा अधिक होने से आकाश भूत सृष्ट होता है और इसी प्रकार बन्धन की मात्रा वृद्धि के साथ-साथ यथाक्रम से मरुत, तेजः, जल और पृथिवी तत्त्वों का उद्भव होता है। वाष्प, जल और बर्फ में जिस प्रकार कोई सत्तागत पार्थक्य नहीं है, केवल प्राकृत-बन्धन का ही पार्थक्य है, पारमार्थिक विचार से जागतिक तथा अतिजागतिक वस्तुओं में पार्थक्य ठीक उतना ही है। सब कुछ एक ही चैतन्य धातु से बना है।

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशद्वायुः।
वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यां पृथिवी॥ (श्रुति)

प्रश्न—१२ मनुष्यों में जो स्वाधीनता है, वह पूर्ण स्वाधीनता है अथवा Dominion status (डोमिनियन स्टेटस) जैसी कुछ है।

उत्तर — इसको पूर्ण स्वाधीनता नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि उसको प्रत्येक क्षण ही परमात्मा तथा भूमामानस की कृपा के ऊपर निर्भर होकर रहना पड़ता है। एक सीमित क्षेत्र में उनको छटपटाहट है, चाहे वह अच्छे कामों के लिये हो या बुरे कामों के लिए। परमात्मभाव के साथ आत्मभाव के एकत्व साधन को छोड़कर पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति असम्भव है।

प्रश्न—१३ जो यह कहते हैं कि अविद्या ही सुख-दुःख का मूलभूत कारण है और साधना द्वारा जीव अविद्या से मुक्त हो सकता है, ऐसी अवस्था में जो मुक्त होता है, वह कौन है?

उत्तर—अणुमानस मुक्त होता है वह विराट मानसिकता प्राप्त करता है। इस विराट मानस-तत्त्व के साक्षी पुरुषोत्तम को जो नहीं मानते हैं, उनके लिए मुक्ति की बातें ही अर्थ हीन हैं। जीवात्मा मोक्ष लाभ करता है। जो उस निर्गुण-ब्रह्म को नहीं मानते, उनके लिये मोक्ष की बात करना ही अर्थहीन है।

नास्तिकवादियों के लिये लिये मुक्ति, कैवल्य अथवा इसी अर्थ में व्यवहृत निर्वाण या महानिर्वाण शब्द बिलकुल अनुपयुक्त है।

प्रश्न—१४ सगुण-ब्रह्म काल के स्रष्टा हैं—क्या यह कहना उपयुक्त है ?

उत्तर— सगुण-ब्रह्म की कल्पनाधारा से ही देश-काल-पात्रादि आपेक्षिक तत्त्व समूह का उद्भव होता है। इसलिए उनको काल स्रष्टा अवश्य ही कहा जा सकता है।

प्रश्न—१५ समष्टि चैतन्य का विषयभाव एक है या अनेक ?

उत्तर — बहु समवाय से सृष्ट 'एक' ही समष्टिचैतन्य का विषय है। इस बहु की प्रत्येक सत्ता ही अपना अपना बोध्य या अबोध्य अणुभाव लेकर चल रही है। यही आगे चलने की सामग्रिकता ही ब्रह्ममानस में "हमारी एक कल्पना" रूप में दिखलाई देती है। ब्रह्म-चैतन्य अपक्षपात भाव से सबों का साक्षित्व साथ लेकर है।

प्रश्न —१६ क्या एक वृक्ष में आत्मा की संख्या एकाधिक हो सकती है ?

उत्तर—आत्मा अर्थात् जीवात्मा एक-एक स्फुट, अर्द्धस्फुट या अस्फुट मन की साक्षी-सत्ता है। वृक्षदेह बहुकौशिक वस्तु है। इसलिये समष्टिगत भाव में उसका स्फुट या अर्द्धस्फुट मन के साक्षी रूप में जिस प्रकार एक ही जीवात्मा रहता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक कोश के लिए एक-एक अर्द्धस्फुट जीवात्मा भी रहता है अर्थात् एक वृक्ष में बहुत जीवात्माओं का साक्षित्व सम्भव है। उसी प्रकार एक ही मनुष्यदेह में या जीवदेह में उसका जैव या मानविक जीवात्माओं के अलावे कोशगत भाव से अजस्र-संख्यक जीवात्माएँ हैं।

प्रश्न—१७ जड़ और चेतन में अन्तर कहाँ है ?

उत्तर—हमलोगों ने जिसको साधारणतः जड़ समझ रक्खा है, वह चैतन्य का ही प्रकृतिबद्ध पांचभौतिक रूप मात्र है जटिलतर जड़ देह ब्रह्म-मन के द्वारा प्रत्येक रूप से नियन्त्रित नहीं होती, ब्रह्ममानस का अणुकेन्द्र अर्थात् अणुमानस के द्वारा नियन्त्रित होता है। यह अणुमानस जड़ की ही प्रतिसंचरकालीन अपेक्षाकृत सूक्ष्म अवस्था है, जिस अवस्था में जड़ की तुलना में तमः प्रकृति का प्रभाव कुछ कम है। तब देखा जाता है कि यह अणुमानस वास्तव में चैतन्य की प्रकृतिबद्ध अवस्था का एक विशेष मान मात्र है। इसी अणुमानस के ऊपर परमात्म-तत्त्व का प्रतिफलन ही जीवात्मा नाम से प्रसिद्ध है। अतएव वह भी चैतन्य को छोड़कर और कुछ नहीं है। चैतन्य, मन या जड़ तीनों ही एक धातु से निर्मित हैं। उनमें केवल बन्धनी-शक्ति के प्रभाव

सम्प्रयोग की मात्रा का अन्तर है ।

प्रश्न—१८ मूर्त्तिपूजा क्यों दोषावह है ?

उत्तर—हम युक्तियों द्वारा जानते हैं कि ब्रह्म अनादि और अनन्त हैं। उनको सादि , सान्त कहकर घोषणा करने का अर्थ क्या इसका अपवाद नहीं ? दूसरी बात यह है कि मूर्त्ति सम्पूर्ण भाव से मनुष्य की कपोल-कल्पना है। वास्तव जगत् में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था या नहीं है। यह कपोल-कल्पित सत्ता चेतनजीव मनुष्य की मुक्ति का कारण किस तरह हो सकेगी ? तीसरी बात यह है मृत्तिका , शिला , या काष्ठ निर्मित मूर्त्तियाँ बहिस्थः तथा पांचभौतिक उपादानों से सृष्ट हैं। बहिस्थः स्थूल पांच भौतिक सत्ता का चिन्तन मनुष्य को जड़त्व की ओर ले जायगा। गुणातीत पुरुषसत्ता की ओर वह मनुष्य को किसी तरह नहीं ले जा सकता।

प्रश्न—१९ यदि कोई कहे प्रकृति ही एकमात्र तत्त्व है क्या उसकी यह उक्ति युक्ति सङ्गत है ?

उत्तर— नहीं ! प्रकृति का अर्थ प्रकार सृजनी शक्ति है। किन्तु जिस मूल धातु से "प्रकार" तैयारी होगा, वह मूल धातु तो प्रकृति नहीं है। उसी मूल धातु के ऊपर प्राकृत शक्ति के प्रभाव के फलस्वरूप वस्तुओं की सृष्टि हो रही है और प्राकृत प्रभाव के तारतम्य के कारण वस्तु-वस्तु में भेद दिखलाई देता है। कर्म की सिद्धि जिस साक्षित्व में है, वह साक्षित्व भाव भी प्रकृति का नहीं है। अतः

प्रकृति किसी भी हालत में एकमात्र तत्त्व नहीं हो सकती है।

प्रश्न—२० पुरुष शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर— "पुरे शेते यः सः पुरुषः" अर्थात् जो देहपुर में निष्क्रिय अवस्था में केवल साक्षिभाव में शायित रहते हैं—वे ही पुरुष हैं।

प्रश्न—२१ सगुण-ब्रह्म में क्या अस्तित्व बोध है? यदि वह है तो उसका प्रमाण क्या है?

उत्तर— कल्पनाधारा के द्वारा जो विश्व की रचना कर रहे हैं, उनमें अस्तित्व बोध रहेगा ही। कारण अस्तित्व बोध कल्पना धारा का पूर्ववर्ती स्तर तथा आधारभूमि है।

प्रश्न—२२ भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान का बोध क्या जीव सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म इन तीनों में ही है?

उत्तर— अपनी बाह्यिक सत्ता की स्थिति, गति प्रभृति की भित्ति में ही काल तथा विभिन्न आपेक्षिक सत्ताओं का बोध जीवों में होता है और इन बोधों के प्रधान कारण के रूप में उनकी स्थूल इन्द्रियाँ रह जाती हैं। अतः सीमित जीवों में देश-कालादि का बोध रहना सम्भव है और वह है भी। किन्तु ब्रह्म के बाहर कुछ नहीं रहने के कारण कुछ ग्रहण-वर्जन के लिए उनकी कोई इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। जीव के लिए जो दैशिक कालिक या पात्रिक सत्ता है, ब्रह्म के लिए वह सम्पूर्णतया आभ्यन्तरी सत्ता है। इसलिए सगुणब्रह्म को देशाधीश, पात्राधीश और कालाधीश कह सकते हैं। जीवों के लिए वे देश-काल

पात्रादि आपेक्षिक तत्त्वों के भी द्रष्टा और स्रष्टा रूप में यद्यपि रह जाते हैं, परन्तु वे स्वयं उन तत्त्वों के अधीन नहीं हैं। मगर तत्त्व-समूह क्या है, वह उन्हें मालूम है। निर्गुणब्रह्म में वस्तु लिंगभाव कुछ भी नहीं रहने के कारण देश-काल-पात्रादि के साथ उनका किसी प्रकार का सम्पर्क रह ही नहीं सकता।

प्रश्न—२३ नास्तिक किसको कहा जाता है ?

उत्तर— जो आत्मा, परमात्मा और वेद इन तीनों में किसी को भी स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है। जो इन तीनों में किसी एक को मानता है, वह आस्तिकों में गण्य होने योग्य है। इसीलिए ईसाई, मुसलमान, यहुदी, आर्य-समाजी, ब्रह्मसमाजी वे सब के सब आस्तिक हैं। जो परमात्मा के नाम पर मूर्त्ति की पूजा करते हैं— समझना होगा कि वे परमात्मा को नहीं मानते हैं। जो आत्मा की पारलौकिक तृप्ति के लिए साक्षिस्वरूप आत्मा को खाद्य रूप में तिलोदक पिन्डादि दान करते हैं— समझना होगा कि वे आत्मा को नहीं मानते और जो वेद के बदले में विभिन्न व्यक्तियों की कपोल कल्पित किस्सा-कहानियों को शास्त्र कहकर मान रहें हैं— समझना होगा कि वे वेद नहीं मानते। परमात्मा, आत्मा और वेद विरोधी इस श्रेणी के व्यक्तिगण जो सम्प्रदाययुक्त ही क्यों न हों— समझना होगा कि वे नास्तिक हैं।

प्रश्न—२४ पुरुषोत्तम के ऊपर क्या प्रकृति का कोई प्रभाव है ?

यदि है तो उस प्रभाव का फल क्या है ?

उत्तर -- पुरुषोत्तम प्रकृति के अधीन नहीं होने पर भी प्रकृति लिप्ति भाव उनमें रहता है। अतः वे गुणाधीश होने पर भी विशुष्क विचार से गुणवर्जित नहीं हैं। उनके प्रकृतिलिप्तिभाव के फलस्वरूप उनमें ब्रह्म के संचर प्रतिसंचर का साक्षित्व रह जाता है।

प्रश्न—२५ जीवात्मा के ऊपर क्या प्रकृति का कोई प्रभाव है ?

उत्तर— पुरुषोत्तम में जिस तरह वस्तु लिप्तभाव है, उसी तरह वस्तु लिप्तभाव जीवात्मा में भी है और इसीलिए वह (जीवात्मा) जीव - मानस की संचर और प्रतिसंचर क्रिया का अर्थात् कल्पनाधारा के साक्षिरूप में रह जाता है।

प्रश्न—२६ पुरुषोत्तम और निर्गुण-ब्रह्म में दार्शनिक विभिन्नता कहाँ है ?

उत्तर— पुरुषोत्तम में वस्तुलिप्तभाव अर्थात् वस्तुओं का साक्षित्व है, किन्तु विशुष्क विचार से जो निर्गुण (अविकल्प) हैं, वह सम्पूर्ण रूप से वस्तुओं के सम्पर्क से मुक्त हैं।

प्रश्न—२७ सविकल्प-समाधि अनन्त सुख-दुःख की अवस्था है अथवा आनन्द की अवस्था ?

उत्तर— सगुण - ब्रह्म का चैत्तिक विकाश अति बृहत् होने पर भी अनन्त नहीं है, किन्तु उनकी चैत्तिक सम्भावना अनन्त है। इन्हीं विकशित और सम्भावनायुक्त दोनों प्रकार के चित्त लेकर ही

सगुण ब्रह्म का चित्त है और वह चित्त अनन्त है। विराट पुरुष विराट भाव में ही अनन्त चित्त का साक्षी है और इसीलिए वह आनन्दमय है। उनके विकशित चित्त का विशेष सुख या विशेष दुःख अनन्त नहीं है— सान्त है एवं वही सान्तभाव मुक्त पुरुष के चिदानन्द में विधृत होने के कारण वह भी आनन्दमय है।

प्रश्न—२८ जिन्होंने जगत् की सृष्टि की है, वे क्या जानते हैं कि कब किस तरह से और किन-किन उपकरणों द्वारा इस जगत की सृष्टि हुई है ?

उत्तर— वे यह अवश्य जानते हैं, क्योंकि उनकी कल्पना से ही देश-काल - पात्र बनते हैं और उनके चित्तधातुसंजात उपकरणों द्वारा ही इस जगत् की सृष्टि हुई है। परन्तु उनकी अपनी सृष्टि कार्य कारण तत्त्वों के बाहर है और वह निर्गुण भाव में ही निहित है।

प्रश्न—२९ ईश्वर की सत्ता जब निर्वैयक्तिक सत्ता है तब व्यक्ति विशेष के प्रति सन्तुष्ट या असन्तुष्ट होना उनके लिए सम्भव है या नहीं अथवा युक्तिसंगत है कि नहीं ?

उत्तर— अपनी कल्पनधारा को वे जिस तरंग में या जिस प्राकृतिक विधान के अनुसार चला रहे हैं, जो व्यक्ति उस विधान को मानकर चलते हैं अथवा उस धारा के अनुसार परमपुरुष के भाव में समाहित होने के लिए एकान्तिक आग्रह लेकर अधिक वेग से उस परमपुरुष की ओर बढ़ रहे हैं, स्वाभाविक नियमानुसार उस पुरुषभाव की निकटता

के कारण विराट पुरुष का प्रतिफलन क्रमशः अधिक से अधिकतर मात्रा में होता रहता है। इसको यदि उनकी सन्तुष्टि या कृपा कहा जाय तो यह कहा जा सकता है। यहाँ इसका ध्यान रखना उचित है कि सभी जीवों के प्रति वे अपनी ज्योति समभाव से ही विच्छुरण करते जा रहे हैं। जिसका चित्त जितना अधिक निष्कलुष है, वह उस विच्छुरण या प्रतिफलन को उतना ही अधिक ग्रहण करने में सक्षम हो रहा है। उतना ही अधिक उनकी कृपा का अनुभव करने में वह सक्षम रहता है अर्थात् वे सब पर ही समभाव से कृपा करते हैं। जो उनकी बात नहीं समझता, उनके भाव की ओर ताकता नहीं है, वह समझता है कि वे एकदेशदर्शी हैं—वे निष्ठुर हैं—उन्होने सबों पर कृपा की है — केवल मुझ पर ही कृपा नहीं की है — केवल मुझको ही अप्राप्ति के अन्धकार में—अनुभूति की जड़ता में फेंक रखा है।

प्रश्न—३० सञ्चरकाल में भौतिक विकाश ब्रह्मदेह के बहिर्मुखी होता है या अन्तर्मुखी ?

उत्तर— ब्रह्म के बाहर कुछ भी नहीं है। अतः ब्रह्मदेह के बहिर्मुख की बात ही अर्थ हीन है। तब हाँ, सात्त्विभाव तथा प्रज्ञानन्द के भाव से चित्तभूमि के अभ्यन्तर में ही वह दूर से सुदूर की ओर चला जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार मनुष्य एक जगह इंगलैंड, अमेरिका, वरुण, वारुणी जिस किसी देश की वह चिन्ता क्यों न करें, चिन्तित वस्तु उसकी चित्तभूमि में ही रह जायगी, उसके बाहर नहीं जायगी। तब हाँ, विषय की स्थूलता के अनुसार वह प्रज्ञाभाव से क्रमशः दूर हट

जायगा ।

प्रश्न -- ३१ सञ्चरकाल में भूत में आभ्यन्तरीण संग्राम बढ़ता है या बाह्यिक ?

उत्तर— आभ्यन्तरीण संग्राम बढ़ता है, क्योंकि वहाँ जड़ की ओर प्रस्तुति चल रही है। इसलिए भाव घनीभूत होकर शक्ति में रूपान्तरित होता है और शक्ति घनीभूत होकर पदार्थ में परिवर्त्तित होती रहती है और पदार्थों के अणु-परमाणु क्रमशः एक दूसरे के निकट आकर आभ्यान्तरीण संग्राम को बढ़ा देते हैं।

प्रश्न ३२— व्याप्ति और स्थिति—काल में है या अकाल में ?

उत्तर — व्याप्ति और स्थिति दोनों ही काल में है। परन्तु तत्त्वों का सर्वसाक्षित्व रहने पर उनका भाव कार्य कारण तत्त्वों के बाहर चला जाता है। ऐसी अवस्था में उसका " कारण " कालपरिधि के बाहर जाने के कारण उस "कारण" का अनुमान करने के लिये उस में अनवस्थादोष आ जाता है।

प्रश्न —३३ जड़वाद की मनस्तात्त्विक त्रुटि क्या है ?

उत्तर —मन का धर्म व्याप्ति की ओर दौड़ना है और इस व्याप्ति की प्रतिष्ठा होती है एक विशेष भाव को केन्द्र बना कर। जड़ का भाव सीमित है। अतः जड़भाव को केन्द्र बनाकर जो व्याप्ति साधना करता है, अन्त में उसे हताश होना ही होगा। वह आनन्द नहीं पा सकता है क्योंकि धन-सम्पद्, विषय-सम्पत्ति, भोज्य-परिधेय आदि किसी को ही अनन्त भाव से पूर्ण तृप्ति के साथ कोई नहीं पा सकता अथवा भोग भी

नहीं कर सकता। केवल यही नहीं, मनुष्य जड़भाव को अपनी अनन्त क्षुधा का केन्द्र बनाकर कुछ अधिक दूर जाने पर दूसरों से उसका स्वार्थ-संघात दिखलाई देगा, क्योंकि ऐसी दशा में वह अधिक परिमाण में धन-सम्पद्, विषय-सम्पत्ति या भोज्य-परिधेय संग्रह करने की प्रचेष्टा में दूसरों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये अत्यावश्यक धन-सम्पद्, विषय-सम्पत्ति या भोज्य परिधेय से वञ्चित करना चाहेगा। जहाँ जड़ को छोड़ कर दूसरा कोई भाव नहीं है, वहाँ मनुष्य को अपनी इस सर्वग्रासी क्षुधा से दूर रखने के लिए हर समय उसके मन पर दबाव देना होगा। मन के ऊपर किसी दबाव को मनुष्य नहीं सह सकता। अतः वह उसे चाहता भी नहीं है। जो उस पर दबाव डालते हैं, उन्हें कुछ भी असतर्क अवस्था में पाने से ये विक्षिप्त-मानस मनुष्य विप्लव या प्रति-विप्लव का रास्ता ही चुन लेते हैं। किन्तु जड़वाद दबाव डालकर भोग-वृत्ति निरस्त करने वाला पथ को एक मात्र पथ समझता है। इसलिए जड़वादी समाज या राष्ट्र में मनुष्य हमेशा शङ्कित होकर एक दूसरे को संशय की दृष्टि से देखता है अथवा गुप्तचर के ऊपर निर्भर रहकर दिन काटता है। आध्यात्मिक आदर्श नहीं रहने से नैतिक भूमि की दृढ़ता नहीं रहती। जड़वादी देश या समाज में जो नैतिकता देखी जाती है, वह असल में पारस्परिक स्वार्थ-रक्षा के लिए एक अपवित्र समझौता छोड़ और कुछ नहीं है। आध्यात्यिक आदर्श नहीं रहने से विश्वप्रेम-भित्तिक पवित्र नैतिकता उस समाज में जग ही नहीं सकती, क्योंकि सब जीवों के स्रष्टा ईश्वर जहाँ अस्वीकृत हैं, वहाँ पितृसत्ता की अस्वीकृति में विश्व-

मानव का भ्रातृत्व सम्पर्क असिद्ध हो जाता है।

केवल आध्यात्मिक आदर्श तथा आध्यात्मिक भोगस्पृहा ही मनुष्य को कल्याण के पथ पर ले जा सकती है। विश्वैकभाव तथा ब्रह्मभाव या ब्रह्मानन्द जड़ पंचभूत के समान सीमित नहीं हैं इसलिए इसको लेकर व्याप्ति साधना में सिद्ध होने पर दूसरे का स्वार्थ या अस्तित्व बोध कुछ भी विपर्यस्त नहीं होता।

मनुष्य को इसलिए आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए प्रेरणा देनी होगी अन्यथा उसका स्थायी उपकार नहीं किया जा सकता है। जब तक वह उस आदर्श को तन-मन से ग्रहण नहीं कर पाता है, तब तक उसको उपयुक्त शिक्षा के साथ-साथ उसके परस्व ग्रहण के लोभ को संयत करने के लिए सामाजिक या बाह्यिक दबाव अवश्य ही देना होगा। किन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि यह दबाव ही सब कुछ नही है एवं आदर्श ग्रहण करने के बाद इस दबाव का प्रयोजन भी नहीं रह जायगा। जिन्हें आध्यात्मिक आदर्श में विश्वास है किन्तु दबाव देने की नीति अर्थात् Violence (चण्डनीति) का समर्थन जो नहीं करते हैं उनके लिए सफलता प्राप्त करना असम्भव है, क्योंकि इस तरह के लोगों की संख्या खूब अधिक है जो अच्छी बातें सुनने के लिए बिलकुल राजी नहीं हैं। उन पर सामाजिक और बाह्यिक दबाव देना ही होगा। अन्यथा कब उनकी सद्बुद्धि जगेगी, इस आशा से चुपचाप बैठ रहने से कभी भी किसी समस्या का समाधान नहीं होगा। जड़वाद की तरह इस प्रकार की अचण्ड (non-violence) नीति पर आधारित आध्यात्मवाद से भी

मनुष्य का कोई काम नहीं होगा, यद्यपि उनकी बातें सुनने में खूब सुन्दर और ऋषिजनोचित हैं, किन्तु वास्तव में उनका मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है।

प्रश्न —३४ आनुष्ठानिक धर्म और आध्यात्मिक साधना में क्या अन्तर है?

उत्तर —आनुष्ठानिक धर्म सभी क्षेत्रों में प्रवृत्तिमूलक हैं। वस्तुतान्त्रिक जगत् की भोगमुखी वृत्तियों के ऊपर ही उनकी प्रतिष्ठा है। खाद्य-वस्त्र, नाम-यश प्रभृति जागतिक वस्तुओं को पाने के लिए मनुष्य में जो आकांक्षा रहती है, तथा इन प्रयोजनों की पूर्ति होने के बाद भी इन सभी वस्तुओं को और भी अधिक परिमाण में पाने की जो उग्रक्षुधा मनुष्य में है, उसकी पूर्ति के लिए ही मनुष्य इस आनुष्ठानिक धर्म का अनुशीलन करता है। धर्म व्यवसायी शोषक के भय उत्पन्न करने वाले प्रचार से विभ्रान्त होकर अथवा अपने सम्पद् की प्रचुरता दिखलाने के लोभ से मनुष्य अधिकतर इस प्रवृत्तिमूलक धर्म साधना में रत होता है। आनुष्ठानिक धर्म का अनुशीलन करना केवल प्रेय की साधना करना छोड़कर और कुछ नहीं है। किन्तु अल्पज्ञ मनुष्य अधिकतया समझ भी नहीं पाते हैं कि इस तरह के कार्य के फल से उनकी प्रेय पूर्त्ति भी नहीं होगी। इससे गुरुतन्त्र और पुरोहिततन्त्र तथा उस पापचक्र के अंशभागी अन्यान्य समाज शोषकों की प्रेय-पूर्त्ति होगी। आध्यात्मिक साधना व्यष्टि जीवन को सर्वात्मक प्रगति के पथ पर ले चलने की ही साधना है। अवश्य ही यह साधना निवृत्तिमूलक है, किन्तु निवृत्ति का अर्थ जगत् को छोड़ कर भागना नहीं है-

आध्यात्मिक मनोभाव से जगत् को देखना है। इसमें आडम्बर का, नाम यश प्राप्ति का अथवा धर्म व्यवसाय के समर्थन करने का कोई प्रयोजन नहीं है वरन् आध्यात्म साधना के साथ इन सबों की संगति रक्षा करना ही असम्भव है। विभिन्न मतों (religion) में अनुष्ठानगत (Ritualistic) भेद अत्यन्त प्रबल है और इसी भेद को केन्द्र बनाकर मध्य युग के मनुष्य— केवल मध्ययुग के मनुष्य ही क्यों, इस युग के मनुष्य भी रक्त की नदी बहाने में हिचकिचाते नहीं हैं। किन्तु आध्यात्म साधना के क्षेत्र में देश, जाति, भाषा, मत (religion) आदि आनुष्ठानिक भेदों का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। यहाँ सभी मनुष्यों का ही एक धर्म और यही सचमुच धर्म पदवाच्य है। मत धर्म नहीं है, मत कई आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों का समष्टि-मात्र है।

प्रश्न— ३५ महत् आदर्श का प्रचार किस तरह अधिक होता है? पर-मत खण्डन और पर निन्दा से अथवा रचनात्मक कार्य द्वारा ?

उत्तर—रचनात्मक कार्यक्रम ही आदर्श प्रचार का अधिक सहायक होता है। पर-निन्दा और पर-मत खण्डन करने से एक आपातः जय का सुख मिल सकता है, परन्तु इससे तो मनुष्य को सचमुच कोई लाभ नहीं होता। वरन् निन्दक मन निन्दित वस्तु में सर्वदा लिप्त रहने से स्वयं भी क्रमशः तद्भावापन्न हो जाता है अर्थात् वह स्वयं भी निन्दित वस्तु का सारूप्य लाभ करता है।

प्रश्न—३६ जो जटा रखते हैं, गेरुआ वस्त्र पहन कर सन्यासी का रूप धारण करते हैं, वे क्या किसी विशेष मानसिक व्याधि से ग्रस्त हैं?

उत्तर — हाँ, यह बात सुनने में खराब लगते हुए भी कटु सत्य है। वास्तव जगत् के सम्बन्ध में हताश होकर या भय का भाव उग्र हो जाने पर लोगों के मन में इस प्रकार की पलायनी वृत्ति घर कर जाती है। कोई शोक नहीं सह सकने के कारण, कोई कर्ज बढ़ जाने के कारण, कोई परीक्षा में असफल होकर; कोई पारिवारिक अशान्ति से ऊबकर संसार को ही मिथ्या कहकर एक प्रकार की तृप्ति पाता है तथा सांसारिक दायित्व से छुटकारा पाने के लिए सन्न्यास लेता है —हिमालय में जाकर घर बनाता है। वह यह नहीं विचारता है कि हिमालय भी तो इसी संसार के बीच है और वहाँ जाने पर यदि वस्त्रों की चिन्ता न भी रहे किन्तु अन्न की चिन्ता तो रहेगी ही। वह अन्न भी तो इसी मिथ्या जगत् के अरण्यों के वृक्षों से, लता-गुल्मो से अथवा इसी मिथ्या जगत् के तथा-कथित मोहबद्ध (सन्न्यासियों की भाषा में) गृहस्थों के दरवाजे से माधुकरी द्वारा संगृहित होता है।

चोर पुलिस के भय से अथवा कामचोर अर्थोपार्जन के मतलब से सन्न्यासी बनता है। यह अवश्य ही एक अलग बात है, क्योंकि इस क्षेत्र में वह संसार को मिथ्या या माया कहकर इसकी उपेक्षा नहीं करता वरन् अपनी व्यष्टि स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनसाधारण के समीप जगत् के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में बड़ी - बड़ी बातें कहता है ' जिससे लोग संसार की नश्वरता जानकर अपने कष्टार्जित अन्न-वस्त्र और अर्थ को ऐसे अभिनेता साधुओं की सेवा में नियोजित करने को उत्साहित होते हैं।

अवश्य ही जिन देशों में आर्त्तत्राण में जनसाधारण अथवा राष्ट्र,

यथोचित भाव से व्रती नहीं हैं, उन देशों में सामयिक भाव से जन-कल्याण-व्रती सन्यासी सम्प्रदाय की आवश्यकता है। इन लोगों को वेशधारी व्यवसायी सन्न्यासियों के प्रर्याय में लाना अनुचित काम होगा।

प्रश्न —३७ सर्व-धर्म-समन्वय किस हद तक सम्भव है ?

उत्तर—आनन्द की खोज करना ही जीव मात्र का धर्म है अतः विश्व-मानव का धर्म एक ही है—अनेक नहीं। इसीलिए सर्व-धर्म-समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। आपातदृष्टि से विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के बीच जो अनुष्ठानगत भेद रहते हैं, वे अनुष्ठानगत ही भेद हैं—धर्मीय भेद नहीं। जहाँ पर अनुष्ठान ही सब कुछ है, आनन्द प्राप्ति की प्रचेष्टा गौण अथवा अस्वीकृत है, वहाँ पर और जो कुछ भी हो, धर्मभाव नहीं है।

प्रश्न—३८ जातिभेद क्या बिलकुल मूल्यहीन है ?

उत्तर—नहीं, संसार में कोई वस्तु मूल्य-रहित नहीं है। अनग्रसर विज्ञान के युग में जब शिल्पमात्र ही कुटीर-शिल्प था, उस समय परिवार विशेष पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही जीविका में लगा रहता था। उसके फलस्वरूप पुत्र -पौत्र परस्पर एक ही शिल्प लेकर बहुत दिनों तक उसका अनुशीलन करते थे तथा गवेषणा करने के कारण ही उन्होंने शिल्प में उत्कर्ष प्राप्त किया था। अतः वृत्तिगत भाव से परिवार - विशेष को चिन्हित कर देना उस युग में कुछ बुरा नहीं था। किन्तु आज युग ने पलटा खाया है। शिल्प आज परिवारगत भाव से संरक्षित नहीं है। यन्त्रशिल्प के व्यापक बिस्तार से उसको रखना भी

सम्भव नहीं है । इसीलिए शिल्पगत जातिविभाग आज के युग में बिलकुल अर्थहीन है । उसके अलावे उस युग में अर्थात् जिस युग में शिल्प-गत जाति विभाग की आवश्यकता थी , उस समय भी उच्च-नीच जाति-भेद का कोई प्रयोजन नहीं था ।

प्रश्न—३६ जीवन में रचनात्मक काम बड़ी बात है या ब्रह्म-साधना ?

उत्तर—जीवनधारण का एकमात्र उद्देश्य ही है ब्रह्मसाधना । स्नान, आहार एवं निद्रा की तरह रचनात्मक काम या दूसरे सेवामूलक काम इसी ब्रह्मसाधना के ही अंग-मात्र हैं । इसीलिए इन सबसे बढ़कर ब्रह्मसाधक ही श्रेष्ठ हैं।

प्रश्न—४० समाज जीवन के लिए सभी देशों में सर्वकाल में समाज की सभी शाखाओं के लिए क्या एक विशेष अर्थनैतिक मतवाद को चरम मानकर ग्रहण किया जा सकता है ?

उत्तर—नहीं, मनुष्य के सर्वात्मक विकाश की बातें सोचकर तथा देश काल-पात्र से संगति रखकर सामाजिक आदर्श तथा व्यवस्थाएँ बनानी होंगी । एक विशेष देश , काल या पात्र के सामने जो खूब उपयोगी है, वही परिवर्त्तित देश - काल या पात्र के लिए बिलकुल मूल्यहीन भी हो सकता है ।

समाज एक गतिशील सत्ता है, वह स्थितिशील नहीं है । इसीलिए विशेष देश-काल-पात्र के साथ सम्बन्ध रखकर जो एक आदर्श बना था अथवा जो एक दिन सचमुच कल्याणकारक कह कर गृहीत हुआ था, समाज की अग्र-गति के साथ उसके दैशिक , कालिक तथा पात्रिक परिवेश के परिवर्त्तन के

साथ-साथ बहुत पीछे पड़ जाता है । वह नीति प्रागैतिहासिक नीतिरूप में दूर अतीत के अन्धकार में खो जाती है । मार्क्सवादी कहो अथवा अन्य कोई भी समाजआश्रयी, अर्थ-नैतिक मतवाद कहो, किसी को अभ्रान्त रूप से अधिक दिनों तक पकड़ कर रखा नहीं जा सकता, क्योंकि सामाजिक या अर्थनैतिक नीति एक विशेष देश-काल-पात्र में ही सर्वोच्च मूल्य वहन करती है तथा उसी विशेष दैशिक-कालिक-पात्रिक आवेष्टनी में उसकी प्रयोग-भौमिक-सार्थकता देखकर या समझ कर अज्ञानी लोग समझते हैं कि यह चिरकाल तक रहेगी—यह नीति मानो बिलकुल अभ्रान्त है ।

प्रश्न—४१ मानव सभ्यता तथा मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा करने के लिए आनन्दमार्ग को छोड़कर अन्य कोई पन्थ नहीं है, क्यों ?

उत्तर—एकताबद्ध मानवगोष्ठी सभ्यता बना लेती है । मिलित भाव से बचने का प्रयास ही उसे बचा कर रखता है । किन्तु समाज एक गतिशील सत्ता है । इसीलिए यह जो बचना है—यह एक चलमानता के सिवा और कुछ भी नहीं है । जहाँ एक विशेष आदर्श लेकर, एक ही पथ पर, एक दल मनुष्य सब के सुख-दुःख में समभागी होकर सबको एक साथ चलने का आह्वान करते हुए एक साथ चल रहे हैं उन्हीं लोगों का चलना सार्थक है । वे ही मृत्युञ्जयी बनते हैं ।

इस देश-काल-पात्रगत भाव से द्रुत परिवर्त्तनशील जगत् में कोई विशेष आर्थिक या राजनैतिक अथवा 'रेलिजनगत मतवाद' स्थायी भाव से किसी का लक्ष्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उनका जन्म विशेष देश-काल-पात्र में

होता है और उनका ध्वंस भी विशेष देश-काल-पात्र में होता है। एकमात्र पारमार्थिक सत्ता जो देशातीत, कालातीत और पात्रातीत है, उसी को जीवन के लक्ष्य रूप में ग्रहण करने से और उसी चलने के पथ का छन्द समझ कर जगत की प्रवृत्तिमूलक कार्यावली का परिचालन करके ही मनुष्य सर्व काल के लिए कल्याण प्राप्त कर सकता है। आनन्दमार्ग उसी कल्याण का ही पथ है और इसीलिए सभ्यता तथा अस्तित्व को बचाने के लिए आनन्दमार्ग को छोड़कर अन्य कोई दूसरा रास्ता नहीं। बहिरङ्गिक तथा अनुष्ठानमूलक (ritualistic) धर्मसमूह जिसको असल में धर्म नहीं कहकर मत (religion) कहना ही अधिक तर्क सङ्गत है, यह युग-युग में, देश-देश में, पात्र पात्र में बदलता रहता है। स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहने के कारण और दश-बीस आपेक्षिक तत्त्वों की तरह 'रेलिजन' ने भी अनेक अनर्थ, रक्तपात तथा पैशाचिकता की सृष्टि कर मनुष्य जाति के अकल्याण को ही आमंत्रित किया है। इसीलिए रेलिजन मनुष्य को शान्ति नहीं दे सकता।

प्रश्न—४२ मन का रोग एवं मस्तिष्क का रोग क्या एक ही चीज है ?

उत्तर—नहीं, स्थूल मस्तिष्क सूक्ष्म-वस्तु-मन का कारणमात्र है। मस्तिष्क उसके विशेष-विशेष अंश की विशेष-विशेष योग्यता की सहायता से मन के विशेष-विशेष भाव को रूप देता है, व्यक्त करता है, कल्पना को तरङ्गायित कर देता है। मस्तिष्क के ये विभिन्न अंश या कोशसमूह पाञ्चभौतिक उपादानों से निर्मित हैं इसीलिए स्थूल भौतिक कारण से

(material cause) कोई सेल (cell) पूर्णभाव या आंशिक भाव, सामयिक भाव या स्थायी भाव से विकृत हो जा सकता है। वह कोश सुस्थ अवस्था में मन के जिन तरह के भावों को वहन करता था, कोश की विकृति होने से उन भावों की स्फूर्ति नहीं हो सकती है। इस अवस्था को मस्तिष्क का रोग कहा जा सकता है। उग्र मानसिक स्पन्दन सहन नहीं करने के कारण कभी-कभी कोशों की विकृति हो जाती है। ऐसी दशा में भी उनको मस्तिष्क का रोग ही कहेंगे।

किन्तु जहाँ मानसिक अर्थात् चैत्तिक त्रुटि-विच्युति के फलस्वरूप कारण-रूपी मस्तिष्क को भावरूपी खुराक नहीं मिलती, वहाँ मस्तिष्क स्वस्थ रहने पर भी सचमुच स्वाभाविक भाव से कल्पना या स्मरण कार्य नहीं कर सकता है। इस प्रकार की अवस्था को मन का रोग कहा जायगा। किसी विशेष व्यक्ति को देखकर क्रुद्ध हो जाना, किसी विशेष व्यक्ति के प्रति अस्वाभाविक भाव से अनुरक्त हो जाना, किसी विशेष विषय की अधिक चिन्ता करना या विशेष समय के लिये विशेष घटना को एकबारगी भूल जाना—ये समस्त ही मानसिक व्याधि हैं। स्मृति का आधार भी मस्तिष्क नहीं है, मन है। इसीलिए स्मृति शक्ति का अभाव मूलतः मन की ही व्याधि है। मस्तिष्क की दुर्बलता के कारण अनेक सुस्थ-मानस व्यक्ति भी यथायथ भाव से स्मरण नहीं कर पाते हैं। यह दोष मन का नहीं, मस्तिष्क का है।

प्रश्न— ४३ स्मृति का आधार क्या है ?

उत्तर— अनुभूत विषय के असम्प्रमोष का नाम स्मृति है (अनुभूत-

विषया सम्प्रमोषस्मृतिः) अर्थात् चित्त ने जिस वस्तु को एकबार अनुभव किया है और स्नायु तन्तु से तदनुकूल तरङ्ग बह चुकी है तथा चित्तभूमि में उसका बीज जम चुका है, उस बीज के स्फुरण की सम्भावना को स्नायुकोष में तदनुकूल तरङ्ग फिर से उत्पादन के कार्य में लगाकर चित्त-भूमि को उसी भाव में भावित करने का नाम ही है स्मृति। अतः स्मृति का आधार मस्तिष्क नहीं है, चित्त है। सद्य-सद्य अनुभूत विषयों का तरङ्ग समूह स्नायुकोश पर भी कुछ दिनों के लिए अपनी छाप रख देता है और बाद में क्रमशः अस्पष्ट हो जाता है। इसलिए सद्यानुभूत् विषय -समूह को फिर से चित्त में जगा देना सहज भी हो जाता है। अतः अनेक व्यक्ति ऐसा समझ बैठते हैं कि शायद स्मृतिमात्र ही स्नायुकोश पर रेखाकार में निबद्ध होकर रहती है। प्रत्येक चिन्ता यदि स्नायुकोश से रेखायित होकर रहती तब मनुष्य के मस्तिष्क को इतना बृहत् बनना पड़ता कि इस बृहत् पृथ्वी में उसको स्थान देना सम्भव नहीं होता। तब हाँ, जिनकी चिन्ताधारा बहुशाखा-विशिष्ट है, उपयुक्त तरङ्ग उत्पादन के लिए उनके मस्तिष्क की आकृति जटिल प्रकार की और बृहदाकार हो जाती है।

प्रश्न —४४—* भुत का अस्तित्व क्या सचमुच है ?

---

*भूत शब्द अतीत अथवा सृष्ट के अर्थ में व्यवहार किया जाता है। अतः संस्कृत में प्रेत (Ghost) के लिये यहाँ 'भुत' शब्द व्यवहार किया गया है।

उत्तर — विशेष-विशेष जिन अद्भुत आकृतियों को हम भुत कहते हैं, वे अधिकांश क्षेत्रों में ही कल्पना-सृष्ट हैं। मनुष्य ने मन में जिस तरह की कल्पना कर रखी है दुर्बल मुहूर्त में मन का स्थूल स्तर-समूह काम बन्द कर देने के फलस्वरूप वे कल्पित वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं। स्वप्न देखते समय काममयकोश के निष्क्रिय रहने से मनोमयकोश की तरङ्ग-सञ्जात वस्तुएँ जिस तरह सत्य प्रतीत होती हैं (नींद टूटने के बाद जिसको हम स्वप्न की संज्ञा देते हैं) ठीक उसी प्रकार अत्यन्त भय से, मूढ़ता या जड़ता के कारण अथवा अतिक्रोध या अन्य किसी रिपु तथा पाश के अत्यधिक प्रभाव के फल-स्वरूप काममय कोश सामयिक भाव से ऊर्ध्वतर कोश में समाहित हो जाने पर कल्पना सृष्ट वस्तु ही दृष्ट सत्य वस्तु प्रतीत होती है। ठीक इसी कारण से मनुष्य विभिन्न देव देवियों को भी देख पाते हैं। असल में मनस्तात्त्विक विचार से भुत देखना और देव-देवी देखना एक ही चीज है दोनों का ही वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।

दूसरे के द्वारा आविष्ट (Hypnotised) होकर मनुष्य अनेकतया उसके निर्देशानुसार चिन्ता करना आरम्भ कर देता है। उस समय काममयकोश की सुप्ति के कारण उसी कल्पित वस्तु को वह सत्य समझ लेता है एवं इसी तरह भुत, देव-देवी या मृत आत्मीय को दुर्बल मन के मनुष्य विशेषतया स्त्री और बच्चे देख लेते हैं। इन दोनों प्रकार के भुत या या देवी-देवी दर्शन वास्तव में धनात्मक दृष्टि-भ्रान्ति (Positive hallucination auto या outer अर्थात् स्वगत् या परकृत) है।

इन्हीं के ठीक विपरीत चिन्ता करने से अथवा विपरीत भाव से आविष्ट होने से जो वस्तु है उसी को "नहीं है" प्रतीत होता है। इसको ऋणात्मक दृष्टि-भ्रांति (Negative hallucination- auto या Outer, अर्थात् स्वगत् या परकृत) कहते हैं। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि जो गला फाड़ कर चिल्लाते हैं कि हमने भुत देखा है, उनका ऐसा कहना गलत नहीं है। दृष्टि भ्रान्ति के कारण उन्होंने जो देखा है अथवा जिसको "नहीं है" समझ लिया है, उसे सत्य समझकर ही वे इस तरह की बातें किया करते हैं।

किसी शक्तिशाली पुरुष का मानस धातु विदेही आत्मा को उसके संस्कारानुसार देह निर्मित कर इस तरह का प्रेत बना भी सकता है। किन्तु इस तरह उक्त तथाकथित प्रेत का अस्तित्व उसी पुरुष विशेष की इच्छा के ऊपर ही निर्भर करता है। लौकिक भाषा में जिसे भुत कहा जाता है. इस प्रकार के प्रेत को साधारणतः उस भुत का पर्यायभुक्त नहीं किया जा सकता है। अपना मानस धातु देकर आत्मा को देह दान करना एक अत्यन्त दुरूह कार्य है एवं सत् और शक्तिशाली पुरुष कभी भी किसी को भुत दिखलाने के उद्देश्य से इस तरह का काम बिलकुल ही नहीं कर सकते।

जो विचार करते हैं कि प्रेतात्मा समय-समय पर वृत्ति परितृप्ति के लिए या भाव प्रकाश के लिए अपने मानस-धातु (ectoplasm) की सहायता से सामयिक भाव से रूप परिग्रह करता है—उनकी इस तरह की धारणा भूल है। असल में भुत अपने ही मनुष्य के मानस-धातु

(ectoplasm) से उत्पन्न होता है और इसीलिए भुत का कोई स्वतंत्र आत्मा (विदेही आत्मा) नहीं है। जिस द्रष्टा मनुष्य के मानस-धातु से उसकी सृष्टि हुई है उसी का आत्मा उसका (भुत का) साक्षी है।

प्रश्न—४५ भुत, देव, देवी का भरना क्या है ?

उत्तर—भरना भी भुत या देव-देवी को देखने की ही तरह है। तब अन्तर यह है कि इससे मनुष्य स्वगत भाव से आविष्ट होकर अपने कल्पित विषय के साथ व्यष्टि बोध को एक कर बैठता है एवं उसके फलस्वरूप वह अपने को ही भुत प्रेत या देव-देवी मान लेता है और अपने संस्कारानुयायी आचरण करने लगता है। चिन्तित वस्तुओं के अन्दर ज्ञान का भाव या शक्ति का परिमाप कुछ अधिक है,—इस तरह की धारणा या संस्कार पहले रहने से उस आविष्ट अवस्था में वह कुछ-कुछ अस्वाभाविक काम भी करता है। स्नायु-तन्तु को स्वाभाविक अवस्था में लाने की प्रक्रिया जब अनुसृत होती है, (भुत उतारने वाले या डाक्टर लोग यही काम करते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि डाक्टर लोग जो काम सरल भाव से करते हैं वही भुत उतारने वाले भुत के नाम पर तथाकथित मन्त्रशक्ति की बातें सुनाकर लोगों के मन में अन्धविश्वास पैदा करते हैं) उस समय धीरे-धीरे यह भुत या देवी का प्रभाव भी हट जाता है। इस अस्वाभाविक अवस्था में दिये हुये वचन के पालन के लिए रोगी की मनःशक्ति

पेड़ की डाल तोड़ कर या छत की कार्निस तोड़ने के समान कुछ कठिन कर्म भी कर बैठती है। वास्तव में ये सारे काम मानस-धातु (ectoplasm) की एकाग्रता-प्राप्त शक्ति की सहायता से संसाधित होते हैं। लोग समझते हैं कि रोगी के छोड़ते समय, शायद भुत ही पेड़ की डाल तोड़कर चला गया है। इस भरने की अवस्था में काममयकोश और मनोमयकोश के प्रत्ययमूलक कर्म की शक्ति स्तम्भित अवस्था में रहती है।

प्रश्न—४६ देव-देवी के पास धरना देकर औषध पा जाना क्या है?

उत्तर—यह सर्वज्ञ कारण-मन का खेल है। मनुष्य जो उद्देश्य लेकर निष्ठा तथा एकाग्रता के साथ काम करता है उसका चित्त भी क्रमशः तदाकार प्राप्त करता है। काममयकोश और मनोमयकोश आंशिक भाव से समाहित हो जाने के कारण धरना देने के समय कारण-मन से उद्भूत ज्ञानज स्वप्न की तरह एक विशेष स्वप्नावस्था आती है और उसी अवस्था में सर्वज्ञ कारण-मन से स्वप्न या भाव की विभोरता में वह औषध या ज्ञातव्य प्रश्न का उत्तर पा जाता है। चूंकि पहले से ही उसका संस्कार रह जाता है कि अमुक देवता हमें इस रोग की औषध देंगे या इस प्रश्न का उत्तर देंगे, औषध और प्रश्नोत्तर पाने के समय वे देखते हैं कि उसी देवता के माध्यम से ही उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। वस्तुतः भुत देखने की ही तरह देवता दर्शन भी सम्पूर्ण भाव से एक मानसिक व्यापार-मात्र है। किसी व्यक्ति को किसी देव-देवी की महिमा के सम्बन्ध में दो चार बातें सुनाने के बाद देखा जाता है कि उस देवता के समीप धरना

देकर प्रयोजन के अनुसार औषध या उत्तर उन्हें मिल रहा है। इसमें जाग्रत देवता या अजाग्रत देवता का कोई प्रश्न ही नहीं है, कारण असली वस्तु के साथ देवता का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, यह सम्पूर्ण एक मानसिक विषय है और मानसिक एकाग्रता के ऊपर ही औषध या उत्तर की यथार्थ सम्भावना निर्भर करती है।

प्रश्न—४७ भुत झाड़ने वाले जो भुत उतारते हैं, वह क्या है ?

उत्तर—भुत पकड़ना मूढ़ अथवा भीत अवस्था में एकाग्र भाव से कल्पित भुत की चिन्ता करने के फलस्वरूप बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाने का ही परिणाम है। इस अवस्था में कल्पित वस्तु के साथ (अर्थात् भुत के साथ) उक्त कल्पनाकारी का एकात्म बोध आ जाता है। काममयकोश निष्क्रिय हो जाता है। मनोमयकोश भी प्रत्ययमूलक कार्य में अक्षम हो जाता है। भुत उतारने वाले इसी समय मनोमय तथा काममयकोश को दुबारा जगाने के लिए विभिन्न तरह की प्रक्रियाओं का सहारा लेते हैं। विभिन्न वस्तुओं को सुंघा कर, प्रहार कर और स्नायुपुञ्ज को चंगा करने (Revitalise) की अनेक प्रकार की पद्धतियों का अवलम्बन करते हैं—क्योंकि वे जानते हैं कि स्नायुपुञ्ज ठीक तरह से स्वस्थ हो जाने पर मन भी स्वाभाविक तरह काम करना आरम्भ कर देता है और भुत का आवेश भी दूर हो जाता है। अर्थोपार्जन के लिए तथा अपना गुरुत्व बढ़ाने के लिए वे रोगी की शारीरिक और मानसिक अवस्था समझ कर तथा रोगी के सम्बन्धियों की मानसिक और आर्थिक अवस्था समझ कर ये विभिन्न-तरह के भुत, प्रेत, परी, चुड़ैल, पिशाच, जिन, ब्रह्म-पिशाच आदि की कहानियाँ सुनाते

रहते हैं। लोगों के मन में भुत के सम्बन्ध में विश्वास पैदा करने के लिए, वे देशीभाषा में आहिस्ते-आहिस्ते मन्त्र उच्चारण भी करते हैं। वस्तुतः मन्त्र के जोर से भुत नहीं उतरता, भुत उतरता है स्नायुपुञ्ज को स्वाभाविक अवस्था में लौटाने की प्रक्रियाओं की सहायता से। साधारणतः देखा जाता है कि जो अतिरिक्त चिन्ता करते हैं किन्तु मुँह से कम बोलते हैं जो अत्यन्त डरपोक हैं या जिनका मन दुर्बल है, जो अनादर या अत्याचार से मन ही मन गुमसुम रहते हैं, विशेषतया स्त्री या अप्राप्त-यौवन पुरुष में ही भुत पकड़ने का रोग अधिक होता है। विभिन्न प्रकार की स्त्री-व्याधि और किसी-किसी क्षेत्र में पुरुष व्याधि के परिणाम स्वरूप जो हिस्ट्रिया दिखलाई देती है वह रोग भी इसी भुत का ही स्वगोत्रीय है और दोनों की चिकित्सापद्धति भी एक ही तरह की है।

आनन्द-मार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय) द्वारा

:—प्रकाशित पुस्तकावली :—

१.	आनन्द-मार्ग (हिन्दी , बंगला, अंग्रेजी , मराठी और गुजराती)	२'००
२.	चर्याचर्य भाग १ (हिन्दी १'५० , बंगला ०'७५, अंग्रेजी १'००)	
३.	,, भाग २ (हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी, दक्षिण मैथिली)	०'३०
४.	,, भाग ३ बंगला	१'००
५.	सुभाषित संग्रह भाग १, २, ३ और ४ (बंगला) प्रति खण्ड	२'००
६.	सुभाषित संग्रह भाग १, २ और ३ (हिन्दी, अंग्रेजी) प्रति खंड	२'००
७	तत्त्व कौमुदी (हिन्दी)	०'५०
८.	,, ,, (बंगला)	०'६२
६.	आज की समस्याएँ (हिन्दी और बंगला)	०'५०
१०.	जीवन वेद (हिन्दी , बंगला, उर्दू , सिन्धी, मराठी, तमिल, कन्नड़, गुजराती, उड़िया और भोजपुरी)	०'५०
११.	मानुषेर समाज (बंगला और अंग्रेजी)	२'००
१२.	यौगिक चिकित्सा ओ द्रव्य गुण (बंगला)	३'००
१३.	आनन्द सूत्रम् (हिन्दी और बंगला)	०'७५
१४.	A Guide To Human Conduct	०'५०
१५.	To The Patriot	०'२५
१६.	Idea And Ideology	२'००
१७.	Problem Of The Day	०'५०

प्राप्तिस्थानः- :-आनन्द -मार्ग प्रचारक संघ,

आनन्द नगर

पो० बागलता , जि० पुरुलिया (प० बं०)

आनन्द-मार्ग के मुख पत्रः—

प्राप्ति स्थानः—

१. बोधी-कलर (अंग्रेजी त्रैमासिक) —स्टैन्डर्ड होटल, गोरखपुर (उ०प्र०)

२. प्रगति- वार्ता (बंगला त्रैमासिक) —आनन्द नगर पो० बागलता,
जिला—पुरुलिया (प० बं०)

३. आनन्द-दूत (हिन्दी त्रैमासिक) —लाल दरवाजा, मुंगेर (बिहार)

४. आगिलाएड मेईप्पोरुल (तमिल मासिक) —
श्री के० नारायण स्वामी
म्यूनिसिपल हाई स्कूल
सेलम —१ (मद्रास)

Cheap Literature Series

१.	वह डाकू था।	१० पैसा
२.	उठो! सवेरा हो गया।	१० ,,
३.	उसकी शामत आ गई।	१० ,,